शैक्षिक सरोकारों के बरक्स

(जॉन हॉल्ट की बहुचर्चित पुस्तक 'शिक्षा के बजाय'* की विवेचनात्मक समीक्षा)

शारदा कुमारी**

'शिक्षा के बजाय' जॉन हॉल्ट की उन विचारोत्तेजक पुस्तकों में से एक है जो स्व निर्देशित, उद्देश्यपूर्ण, सार्थक जीवन और काम के पक्ष में और सक्रिय जीवन से कटकर भय के दबाव में सीखने के विरुद्ध है। छोटे बच्चों की जिज्ञासा, ऊर्जा और उत्साह के बारे में या जो कुछ वे करते हैं उसे यथासंभव अच्छे से अच्छा करने की इच्छा के बारे में हम जो कुछ जानते हैं और देख सकते हैं, उसके मद्देनज़र यह पुस्तक सवाल उठाती है कि उन्हें इस तरह के काम करने, इस तरह का जीवन जीने और इसे सहने के लिए तैयार किया जा रहा है या कुछ और?

शिक्षा के बजाय पुस्तक दर्शाती है कि कैसे हम अपने पूरे समाज को एक ऐसी जगह में बदल सकते हैं जहाँ सही मायनों में सीखा जा सकता है। यह सुझाती है कि स्कूल बच्चों को अपना जीवन जीने, अपनी रुचियों को आगे बढ़ाने और सफलता हासिल करने के अपने तरीकों को खोजने की पूरी आज़ादी और पर्याप्त समय दें। प्रस्तुत लेख 'शिक्षा के बजाय' के ज़रिए शिक्षा तंत्र के उद्देश्यों और शैक्षिक प्रकिया पर उठे सवालों के जवाब खोजने की कोशिश करता है।

सुपरिचित शिक्षाशास्त्री जॉन हॉल्ट की सबसे अधिक विचारोत्तेजक पुस्तक 'शिक्षा के बजाय' (मूल पुस्तक Instead of Education का अंग्रेजी से श्री सुशील जोशी द्वारा अनुवाद) शैक्षिक संस्थाओं में घर कर गई उन सभी विषमताओं और अंतर्द्वंद्वों के प्रति बेचैनी प्रकट करती है जो एक ओर तो दावा करती हैं समान सामाजिक व्यवस्था और चिंतनशील समाज की स्थापना का

* जॉन हॉल्ट, इन्स्टेड ऑफ एजुकेशन, सुशील जोशी (अनुवादक), एकलव्य, भोपाल, जून 2007, मूल्य ₹ 110, पृ. सं. 264

** *वरिष्ठ प्रवक्ता*, मं शि एवं प्र. संस्थान, आर. के. पुरम्, नयी दिल्ली-22

और दूसरी ओर अपने ही रूप-स्वरूप के कारण समाज को भिन्न-भिन्न वर्गों में विभक्त करती जा रही हैं। इतना ही नहीं बल्कि लोगों के सोचने-समझने की शक्ति को भी कुंद करती जा रही हैं।

भारतीय शैक्षिक समाज में यह पुस्तक ठीक उस समय अपने पैर जमाने की कोशिश कर रही है जब 'मुफ़्त एवं अनिवार्य शिक्षा के अधिकार अधिनियम, 2009' की दुंदुभि चारों तरफ बज रही है। एक तरफ सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था से जुड़ी हर छोटी-बड़ी इकाई अनिवार्य शिक्षा के इस अधिनियम को क्रियान्वित करने की तरह-तरह की योजनाएँ बनाने में पसीने से तर-ब-तर हो रही है और उधर इस पुस्तक की हर पंक्ति यह चेतावनी दे रही है कि 'अनिवार्य शिक्षा' के जिस स्वरूप को थोपने में सारा सरकारी, गैर-सरकारी तंत्र बेचैन हुए जा रहा है, वह दरअसल सत्ताधारियों का समाज को तोड़ने वाला सबसे घातक विनाशकारी आविष्कार है। यह कहकर पुस्तक पाठकों को सहमने के लिए छोड़ भर नहीं देती, अपितु बदलाव के लिए सृजनात्मक सुझाव और व्यवहारिक युक्तियाँ भी सुझाती है। 'शिक्षा के बजाय' अट्ठारह कथात्मक रिपोर्ताज़ों का संग्रह है। इनमें कुछ ऐसे दृश्य भी हैं जो स्कूली शिक्षा व्यवस्था की भीतर तक जाँच-पड़ताल करते हैं और उससे जुड़े मुद्दों पर अपनी राय भी पेश करते हैं।

पुस्तक के पहले ही पृष्ठ पर लेखक दुनिया भर में प्रचलित शिक्षा की चिर-परिचित परिभाषा की खिलाफ़त करता नजर आता है-"इस समय स्कूलों में दी जा रही शिक्षा वह चीज़ है जो कुछ लोग अन्य लोगों पर उनके ही भले के लिए करते हैं, उन्हें आकार देते हैं, ढालते हैं और उन्हें वह सिखाने की कोशिश करते हैं जो उनकी नज़र में अन्य लोगों को जानना चाहिए।" लेखक के अनुसार सामयिक चुनौतियों के दबाव में हमारी स्कूली शिक्षा व्यवस्था में 'सिखाने' की गुणवत्ता को बढ़ाने के लिए जिस तरह की कवायदें हो रही हैं, दरअसल वे शिक्षा को कारगर बनाने की जगह इसे और बदतर बनाने व अधिक नुकसान पहुँचाने की दिशा में ही काम कर रही हैं क्योंकि जो कुछ भी किया जा रहा है उसका मकसद न तो विवेकपूर्ण है और न ही मानवीय।

जीवन के अधिकार के बाद हमारा सबसे बुनियादी मानव अधिकार अपने दिमाग और विचारों पर नियंत्रण का अधिकार है। इसका मतलब है कि हमें स्वयं के लिए यह तय करने का अधिकार है कि हम अपने आस-पास की दुनिया की खोजबीन कैसे करें, अपने व अन्य लोगों के अनुभवों के बारे में कैसे सोचें और कैसे जीवन के अर्थ की तलाश करें। हमें 'शिक्षित' करने की कोशिश में जो कोई भी यह अधिकार हमसे छीनता है वह हमारे अस्तित्व के केंद्र पर हमला करता है और हमें सबसे गहरी और स्थायी चोट पहुँचाता है। कुल मिलाकर वह हमें बताता है कि हम तो सोच भी नहीं सकते और अपने अनुभवों के आधार पर जो अर्थ हम अपने आप लगाते हैं उसका कोई मूल्य नहीं है। अनिवार्य शिक्षा के इसी ढाँचे को लेखक समाज के लिए

एक बहुत बड़ा खतरा बताता है। तात्कालिक बाज़ारवादी दबाव शिक्षा को इसी तरह का रूपाकार देने में बराबर जुटे हुए हैं। मानव स्वतंत्रता और गरिमा को संजीदगी से लेने वाले लोगों की ओर मुखातिब होते हुए लेखक स्पष्ट करता है कि बच्चे कुछ अधिक सीखेंगे और इस दुनिया से जूझने के लिए उनकी तैयारी कहीं अधिक होगी यदि वे दुनिया को अपने तरीके से खोज पाएँ, ज़्यादा-से-ज़्यादा क्षेत्रों में अपने जीवन को स्वयं दिशा-निर्देश दे पाएँ और उसे नियंत्रित कर पाएँ। दरअसल बच्चों को भी मालूम होता है कि उन्हें क्या सीखना है और कैसे सीखना है। उन्हें लगातार एक दूसरे के खिलाफ एक ऐसी दौड़ में न हाँका जाए जिसमें कुछ को छोड़कर बाकी सबका हारना तय है।

मानव स्वतंत्रता और गरिमा को संजीदगी से लेने वाले समाज के लिए एक प्रकार से चेतावनी समझी जाने वाली इस पुस्तक के भीतर लेखक पाठकों के सामने बहुत से चौंकाने वाले तथ्य प्रस्तुत करता है। स्कूलों में दिये जाने वाले जबरन अनुभवों से बच्चे कुछ भी अच्छा नहीं सीखते बल्कि सीखना तो तभी होता है जब हम वास्तविक सरोकारों और वास्तविक ज़रूरतों से पैदा हुई जिज्ञासा के आधार पर कुछ कर रहे होते हैं।

'सीखने का मिथक' नाम से पुस्तक का यह अंश भारतीय स्कूली शिक्षा व्यवस्था के उन पैरोकारों के लिए बहुत महत्वपूर्ण है जो स्कूलों में बच्चों द्वारा कम सीखे जाने को लेकर अतिशय चिंता में आकंठ डूब जाते हैं और शिक्षकों के लिए तरह-तरह के प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन कर बच्चों को सिखाने संबंधी अविचारित तकनीकों का प्रचार-प्रसार करते हैं।

'सीखना' और 'करना' दो अलग-अलग क्रियाएँ हैं, इस गलतफ़हमी की ओर ध्यान दिलाते हुए जिम हर्न डन की उस कक्षा का हवाला दिया गया है जहाँ बच्चे वे चीजें भी नहीं सीख पाते थे जो वे स्कूल से बाहर इतनी अच्छी तरह से कर लेते थे। जिन चीजों को हम गलती से 'ज्ञान का भंडार', 'सीखने के क्षेत्र', 'अकादमिक विषय' के रूप में देखते हैं वे संज्ञाएँ नहीं बल्कि क्रियाएँ हैं। ये सब इंसानी क्रिया-कलापों के कार्यक्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों में हम जो भी करते हैं, वह पहले से ही दूसरे लोगों द्वारा किये गए काम से जुड़ जाता है और उसका हिस्सा बन जाता है। 'पढ़ना सीखने' के संदर्भ में लेखक 'पढ़ने' की बहुप्रचारित परिभाषाओं की अपेक्षा अनुभवजन्य परिभाषा पर भरोसा करता है। 'पढ़ने' को वह कोई हुनर या कौशल न समझकर काम समझता है। देशव्यापी उपलब्धि सर्वेक्षणों से पता चलता है कि विद्यालय में पाँच-छह वर्ष बिताने के बाद भी बहुत से बच्चे पढ़ना-लिखना नहीं सीख पाते हैं। सर्वेक्षणों से प्राप्त इन नतीजों को लेकर तमाम बुद्धिजीवी, शिक्षा नीतिकार आकंठ चिंता में डूब जाते हैं और बहुस्तरीय बैठकों में तरह-तरह की युक्तियाँ ढूँढ़ निकालने में दिन-रात एक कर देते हैं। उन्हें लेखक द्वारा चिह्नित 'पढ़ना सीखने' की प्रक्रिया पर गौर करना चाहिए। बच्चे चारों ओर अपने परिवेश में लिखित शब्द देखते हैं। वे समझते हैं कि बड़े लोग इन शब्दों का तरह-तरह से इस्तेमाल करते हैं। ये शब्द उनके तरह-तरह से काम में

आते हैं। जिस दिन वे जान लेते हैं कि 'ये शब्द आखिर करते क्या हैं?', वे पढ़ना शुरू करने में देर नहीं लगाते। निश्चित रूप से शुरूआती दौर में वे एक-दो शब्द ही पढ़ पाएँ या हो सकता है, वह भी न पढ़ पाएँ पर यदि उन्हें छूट मिले इस बात की कि अपने तरीके से और अपने कारणों से लिखित शब्दों के अर्थ वे खोज सकते हैं और मनचाही मदद भी प्राप्त कर सकते है, तो वे बहुत ही कम अवधि में अच्छी तरह पढ़ना शुरू कर देंगे। लेखक के लिए (और हम सब पाठकों के लिए भी) सबसे बड़ी हैरानी की बात तो ये है कि 'कितने बच्चों ने स्वयं पढ़ना सीखा और कैसे?' इस विषय पर कोई शोध हुआ या नहीं, सैकड़ों शिक्षाविद् नहीं जानते।

'सत्ता बनाम सच्चाई' शीर्षक के अंतर्गत जार्ज डेनिसन की पुस्तक 'द लाइव्स ऑफ चिल्ड्रन' का हवाला देते हुए लेखक स्कूली प्रक्रियाओं के प्रति अपनी खिलाफ़त दर्ज करते हुए कहता है कि स्कूलों में बच्चों का शिक्षकों के साथ वास्तविक आदान-प्रदान नहीं होता है। शिक्षक वहाँ स्वयं व्यक्ति नहीं होते अपितु किसी भूमिका को निभाने वाले पात्र मात्र होते हैं। वे उन सब बातों को बच्चों के सामने नहीं लाते जो उनका यथार्थ है, जो वे जानते हैं, जिसमें उनकी रुचि है, जिससे उनको प्रेम है, बल्कि उसकी बात करते हैं जो पाठयक्रम द्वारा करने के लिए कही जाती है। स्कूलों में बच्चों की क्रियाओं और ज़रूरतों पर स्वाभाविक रूप से ध्यान नहीं दिया जाता। दरअसल ऐसा इसलिए होता है क्योंकि अध्यापक स्कूलों में किसी-न-किसी अदृश्य डर से घिरे रहते हैं। इस संदर्भ में इस पुस्तक से पंक्ति उद्धृत है—''यदि मैं ऐसा करूँ या ऐसा कहूँ या छात्रों को ऐसा करने दूँ या कहने दूँ तो क्या मैं मुश्किल में फँस जाऊँगा/जाऊँगी।'' लेखक की नज़र में अध्यापकों का यह डर बेबुनियाद नहीं है क्योंकि हर सामाजिक व्यवस्था में बहुत से अध्यापक सच बताने के लिए किसी-न-किसी रूप में दंडित हुए हैं और यही वह कारण है कि स्कूलों में शिक्षक और बच्चों के बीच ईमानदार संवाद की गुंजाइशें खत्म हो जाती है। अन्ततः परिणाम यही होता है कि स्कूलों में 'सीखने' या 'करने' जैसी क्रियाएँ पनप ही नहीं पातीं। पुस्तक के चौथे रिपोर्ताज 'करने वालों के लिए संसाधन' से प्रतीत होता है कि लेखक इवान इलिच की 'डीस्कूलिंग सोसायटी' में प्रस्तुत प्रस्तावों से बहुत अधिक प्रभावित है। बोस्टन के 'बीकन फ्री स्कूल' और शिकागो के उत्तर में बसे उपनगर 'इवैंस्टन' के 'द लर्निंग एक्सचेंज' में सीखने और करने से जुड़ी गतिविधियों की एक लंबी फेहरिस्त गिनाई गई है। मानव अनुभव और रुचियों की असाधारण विविधता का एक अच्छा अंदाज मिलता है इस फ़ेहरिस्त से। न्यूयार्क के जेम्सटाउन का पुस्तकालय किस तरह से किस्म-किस्म की चीज़ों के सीखने के आदान-प्रदान का केंद्र बनकर कार्य कर रहा है, इसका भी खूबसूरत शब्दचित्र उकेरा गया है इसी अध्याय में।

'करने वाले और उनके शिक्षक' शीर्षक में अपने पेशे को संजीदगी से लेने वाले अध्यापकों को बहुत से चमत्कारी सुझाव प्राप्त होंगें। किसी

भी कार्य को 'सीखने और करने' के संदर्भ में लेखक अध्यापकों को वैचारिक संपदा से परिचित करवाना चाहता है कि विद्यार्थियों को यह महसूस करने में मदद मिलनी चाहिए कि अमुक कार्य को करना कैसा रहेगा और कैसा लगेगा। बड़े सीधे-सपाट शब्दों में अध्यापक विद्यार्थियों को सुझाव दें कि किसी काम को वास्तव में करने से पहले ज़रूरी है कि उस कार्य का मन में एक चित्र बना लिया जाये। इसके बाद बारी आती है क्रमबद्धता, खोजबीन और आविष्कार के अवसर और फिर फ़ीडबैक। सीखने वाले को यह सब शिक्षक के अतिरिक्त कहीं और से मिल सकता है, इसके बारे में लेखक को संदेह है। इस संदेह के रहते वह यह भी स्पष्ट कर देना चाहता है कि अध्यापक 'मार्गदर्शन' के सही अर्थों को समझें। मार्गदर्शन का तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि बच्चों को हर जगह और हर समय यह बताना पड़े कि उन्हें क्या करना है और क्या नहीं? यहाँ पर मार्गदर्शन को 'सलाह' से जोड़ने का सुझाव दिया जा रहा है। इसी शृंखला को आगे बढ़ाते हुए लेखक पाठकों को विद्यालयी शिक्षा में बरसों से रची-बसी परीक्षा पद्धति का तार्किक विवेचन करने के लिए बाध्य करता है।

दरअसल परीक्षा या इम्तिहान का जायज़ उपयोग तो यही है कि पता लगाया जाये कि छात्र कहाँ है ताकि शिक्षक कार्यों को बेहतर क्रम में जमा सके और खोज़बीन में छात्र की मदद कर सकें। पर परीक्षा का स्वरूप इसके बिल्कुल विपरीत है। विंस्टन चर्चिल की बात को उद्धृत करते हुए लेखक रेखांकित करता है कि ''स्कूलों में टेस्ट यह जानने के लिए नहीं दिये जाते हैं कि आप क्या जानते हैं, बल्कि यह जानने के लिए दिये जाते हैं कि आप क्या नहीं जानते? इनका मकसद यह भी नहीं होता कि आपको मदद दी जा सके, या फिर आप वह सब जान सकें जो आप नहीं जानते हैं बल्कि इनका मकसद आपको मात्र यह बताना होता है आप अन्य छात्रों से बेहतर हैं या बदतर।'' होना तो यह चाहिए कि प्रत्येक छात्र के लिए शिक्षक अलग-अलग टेस्ट तैयार करें। जिससे छात्र जो कुछ बेहतर ढंग से जानता है वही उभरकर आए।

'कुछ और शिक्षक' हिस्से में किताब उन शाश्वत प्रश्नों से जूझती है जिनसे सभी शिक्षक अपने अध्यापन काल में एक बार नहीं, कई-कई बार दो-चार हो चुके होंगे। लेखक के अनुसार अभी तक शिक्षा व्यवस्था में जो कुछ हो रहा है, दरअसल वह सब उलटे क्रम में हो रहा है। जैसे कि किसी शब्द का उच्चारण व अर्थ जानने से पहले बच्चे को पूरी बारहखड़ी मात्राएँ, संयुक्ताक्षर वगैरह सब सीखने के लिए कहते हैं। विद्यालय में बच्चों को सिखाने से जुड़ी तरह-तरह की कड़वी मिसालों के बरक्स कुछ रोचक उदाहरण भी पुस्तक में मिल जाते हैं। उनमें से एक यहाँ भी प्रस्तुत है—

"एक बार पाँच साल के एक बच्चे ने मुझसे पूछा कि चोट लगने पर कैसे खून बाहर आने लगता है। मैंने उससे पूछा कि 'क्या उसे पता है कि उसका हृदय कहाँ है? और क्या करता है?' उसे नहीं पता था। तब मैंने उसे दस बार ऊँचा-से-ऊँचा उछलने के लिए कहा। उसने काफी

संजीदगी से ऐसा किया। फिर मैंने उससे अपना हाथ अपने सीने पर बाईं ओर रखने के लिए कहा। उसकी आँखें फैल गईं। उसके अंदर कोई चीज़ धक-धक कर रही थी। उसने पहले कभी अपने अंदर उस चीज़ को महसूस नहीं किया था। अब उसे बताना आसान था कि हृदय हर धक-धक के साथ दबता है, और खून को पतली-पतली नलियों में दौड़ाने का काम करता है। चोट लगने पर कटी नली से खून बाहर आता है।"

बिल बर्नहार्ड्ट के लेख 'ए शॉर्ट कोर्स इनज़स्ट राइटिंग' के ज़रिए लेखन को दुरुस्त करने और लेखन क्षमता बढ़ाने के लिए सूझ-बूझ से भरे और उपयोगी कारगर तरीके पाठकों को अचंभित करेंगे।

एक और रोमांचकारी तथ्य पेश किया है लेखक ने। वह यह कि लोगों को सही जवाब देना सिखाना बहुत आसान है। जो चीज़ सिखाना मुश्किल है वह है, सही सवाल पूछना, सवाल जो रोचक हों, महत्त्वपूर्ण हों, उपयोगी हों और दूरगामी हों। स्कूल की पाठ्यपुस्तकें अच्छे सवालों की बानगी पेश नहीं करतीं। वे हमें सही जवाब तो बताती हैं, मगर यह नहीं बतातीं कि किन सवालों ने लोगों को ये जवाब खोजने को प्रेरित किया था। इसलिए हमें इस बात का बहुत ही कम पता चलता है कि महत्वपूर्ण विचारकों ने किस तरह के अच्छे सवाल पूछे हैं।

डेनमार्क के नॉय लिलस्कोल की बात किये बिना पुस्तक की समीक्षा अधूरी ही रहेगी। 'एक अच्छा स्कूल' शीर्षक के अंतर्गत नॉय लिलस्कोल शिक्षणशाला (स्कूल) का बहुत ही खूबसूरती के साथ शब्दचित्र उकेरा गया है। लेखक इस स्कूल के जीवंत दिलचस्प, खुशनुमा, सुरक्षित, विश्वासी, सहयोगी व सामुदायिक वातावरण से बहुत अधिक प्रभावित हैं। यहाँ साझा संपत्ति को नष्ट किये बिना और एक दूसरे को नुकसान पहुँचाए बिना सब वही करते हैं जैसा उन्हें ठीक लगता है। बिना किसी शैक्षिक कार्यक्रम के, बिना किसी पाठ्यपुस्तक या परीक्षा के यह स्कूल बच्चों को सीखने-करने के मज़ेदार भरपूर अवसर देता है।

'शिक्षा के बजाय' में लेखक ने शैक्षिक व्यवस्था का जो परिदृश्य हमारे सामने प्रस्तुत किया है, वह किसी और समाज का नहीं बल्कि अपनी ही परिस्थितियों के भीतर दरकी सच्चाईयों का आईना लगता है। पुस्तक का हिंदी में अनुवाद किया है श्री सुशील जोशी ने। अनुवाद का तेवर विषय-वस्तु के मिजाज़ से मेल खाता है। पुस्तक कई अंशों में बिखरी हुई है। उससे अनुमान तो यह हुआ कि हर अंश का अंदाज़े-बयाँ विशिष्ट होगा पर ऐसा बहुत जगह नहीं हो पाया है। अनुवाद गुणयुक्त और प्रवाहपूर्ण है। उसकी बुनावट सरल और सादगीपूर्ण है, कहीं-कहीं प्रभावशाली रूप में किस्सागोई भी उभर कर आई है।

अंततः, कहना चाहूँगी कि 'शिक्षा के बजाय' शैक्षिक परंपराओं के कटघरों के विरुद्ध वह रणभेरी है जिसे शिक्षा के अधिकार अधिनियम के परिप्रेक्ष्य में समझना होगा और जिसकी खुली चुनौती का सामना हमें करना होगा।